UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180668

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.092 R 26V Accession No. G-H1'

Author

Title विद्यापति और उनकी कविता

This book should be returned on or before the date last marked below.

विद्यापति और उनकी कविता

उपक्रमणिका

अनुमान से साढ़े पांच सौ बरसों से भी कुछ अधिक काल पूर्व मिथिला-प्रान्त में महाकवि विद्यापति का जन्म हुआ था। यों तो उन्होंने "पुरुष-परीक्षा" नामक संस्कृत-काव्य, "कीर्त्ति-लता" नामक अपभ्रंश-काव्य और कुछ संस्कृत-स्मृति-शास्त्र के ग्रंथों की रचना की थीं; पर मैथिल भाषा में रचित पदावली के लिए ही नाम अमर है। आप शैव-धर्मावलम्बी थे; परन्तु श्रीराधा श्रीकृष्णजी की प्रेम-लीला आदि रसात्मक कविता के लिए बड़ा उपयोगी विषय जानकर आपने इस प्रेम-लीला विषय पर धिकांश पदावली रची थी; और आपकी असाधारण कवि-प्रतिभा ारण वह ऐसी अनूठी भी हुई कि सम्पूर्ण गौड़-प्रान्त के रसज्ञ ों के लिए तो वह पदावली जयदेव के गीति-गोविन्द जैसी

अतुलनीय कण्ठ-माला हो रही है। विद्यापति की जन्मभूमि ह
हुए भी मिथिला-प्रान्त में कभी वैष्णव-धर्म का प्राबल्य नहीं हु
था; परन्तु बंगाल-प्रान्त में प्रायः साढ़े चार सौ बरसों के प
श्रीचैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव होने के कारण वहाँ वैष्णव-
की ऐसी उन्नति हुई कि उन्हीं के शिष्य-सम्प्रदाय ने ब्रज-धाम
पधारकर बहुतेरे लुप्त वैष्णव-तीर्थों के उद्धार द्वारा वहाँ भी गौड़ी
वैष्णव-धर्म का प्रचार कर दिया और तब से ही ब्रज-धाम के स
बंगाली वैष्णवों का मेल बढ़ता जा रहा है। विद्यापति की मैथि
और ब्रज-धाम की ब्रज-भाषा ने इस समय बँगला भाषा
ऊपर ऐसा प्रभाव जमा लिया है कि बंगाल में एक **तथा-कथि**
"ब्रज-बुली" भाषा का उद्भव हुआ, जिसमें मैथिली अ
ब्रज-भाषा का कुछ लक्षण तो देखा जाता है, परन्तु उसमें मैथि
और हिन्दी 'तद्भव' शब्दों से 'तत्सम' अर्थात् संस्कृत शब्दों
ही अधिक प्रयोग मिलता है। बंगाल के गोविन्ददास, ज्ञानदास
रायशेखर आदि प्राचीन और प्रधान वैष्णव-कवियों ने इ
"ब्रज-बुली" भाषा में बहुत सी वैष्णव-पदावली रची है, औ
फिर इस "ब्रज-बुली" के प्रभाव से बंगाल में प्रचलित विद्यापति
की पदावली की भाषा भी कुछ ऐसी परिवर्तित और विकृत ह
गई है कि विद्यापति के मैथिल पदों से बँगला पुस्तकों के पदों क
भाषा बहुत कुछ अलग मालूम होती है। अस्तु, इसमें तो कुछ
सन्देह नहीं है कि कम से कम साढ़े चार सौ वर्षों से विद्यापति

की पदावली बंगाल में प्रचलित है और श्रीचैतन्य प्रभु और उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा गायी भी जाती है। इसके सिवा "गीत-चिन्तामणि" "पदामृत-समुद्र", "पद-कल्पतरु", "पद-रत्नाकर" आदि बहुत से प्रकाशित और अप्रकाशित पुरातन पद-संग्रह-ग्रंन्थों Anthologies में भी, गोविन्ददास आदि बंगाली कवियों के बँगला और "ब्रज-बुली" पदों के साथ भी उद्धृत हुई है। विगत पचास वर्षों से बँगला भाषा में विद्यापति की पदावली के कम से कम सात या आठ संस्करण प्रकाशित हुए; जिनमें श्रीयुत नगेन्द्रनाथ जी गुप्त का सटीक संस्करण, जो स्वर्गीय जस्टिस बाबू शारदाचरण मित्र महोदय के सम्पूर्ण व्यय से कलकत्ता की बंगीय-साहित्य-परिषत् द्वारा प्रकाशित हुआ था, ऐसा सर्व्वाङ्ग और महत्त्व-पूर्ण है कि प्रधानतया उसीके आधार पर लहेरियासराय (दरभङ्गा) के हिन्दी-पुस्तक-भंडार द्वारा श्रीयुत पण्डित रामवृक्षजी शर्म्मा बेनीपुरी का सटिप्पण और सचित्र संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित हुआ है और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) की उत्तमा-परीक्षा के लिए अन्यतम पाठ्यग्रन्थ नियत किया गया है। संक्षेप में यह कहने में कुछ अत्युक्ति न होगी कि बंगाल में अब तक विद्यापति के विषय पर जितना खोज और विचार हो रहा है उतना किसी जीवित या मृत बंगाली कवि के विषय पर भी नहीं हुआ।

अब हिन्दी-संसार की ओर भी देखना चाहिये। सर

ग्रिअर्सन साहेब ने अपनी बिहारी-भाषाओं के व्याकरणों की भूमिका* में अच्छी तरह से यह प्रमाणित किया है कि भोजपुरी, मागधी और मैथिली—बिहार की इन तीन ख़ास भाषाओं के साथ बँगला-भाषा का जैसा सामीप्य और सादृश्य है—बहराइच, गोंडा, बारहबंकी, सीतापुर, रायबरेली, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, लखनऊ, उन्नाव, फ़तेहपुर, इलाहाबाद, बाँदा, रीवाँ, बुन्देलखण्ड, जबलपुर आदि ज़िलों में प्रचलित बैसवाड़ी बोली के साथ भी उतना ही सामीप्य और सादृश्य है। इसलिए विद्यापति की मैथिली कविता दुर्बोध होने के कारण हिन्दी-भाषा के पश्चिमी प्रान्तों में चाहे प्रचलित न हो, पर संयुक्त-प्रान्त के उल्लिखित स्थलों में उस के प्रचार न होने का कारण तो मेरी समझ में यही मालूम होता है कि सन् १८८१ के पहले विद्यापति की पदावली नागराक्षर में प्रकाशित नहीं हुई थी; और तब मिथिला के साथ उन प्रान्तवासियों की इतनी घनिष्ठता भी नहीं थी जिसके लिए वे मिथिला में जाकर भगीरथ-प्रयत्न से विद्यापति की पदावली की खोज और संग्रह करते रहते। बंगाल की बात दूसरी थी। अनुमानतः चार सौ वर्ष के पहले मिथिला-प्रदेश न्याय-शास्त्र की अध्यापना के लिए प्रसिद्ध था। इस कारण बहुत से बंगाली विद्यार्थी वहाँ

---

* Seven Grammars of the Dialects and sub-dialects of the Bihari Language. Part I Introductory. Printed at the Bengal Secretariat Press, Calcutta, 1883.

जाते थे। इसके सिवा नव्य न्याय-शास्त्र के प्रचार के कारण बंगाल के नवद्वीप के विश्व-विख्यात होने से मिथिला के भी बहुत विद्यार्थी नवद्वीप में आया जाया करते थे। प्रधानतया इसी कारण—और गौड़ीय वैष्णवों का विद्यापति पदावली पर अनन्य प्रेम होने के कारण भी—उस पदावली को बङ्गाल में फैलने में खूब सुभीता मिला और सम्भवतः दो-एक सदी में वह जहाँ-तहाँ फैल भी गयी थी। हिन्दी-संसार में विद्यापति की पदावली के कम प्रचार होने का कारण चाहे जो हो; यह तो निश्चित है कि पहले सन् १८८१ में, सर ग्रिअर्सन् महोदय द्वारा अंग्रेजी-अनुवाद के साथ, विद्यापति की पदावली के "नागराक्षर" में प्रकाशित होने के बाद और भी प्रायः २५ वर्ष तक हिन्दी-संसार में इस विषय पर कुछ खोज या विचार नहीं हुआ था। संवत् १६६५ वि० में आरे की नागरी-प्रचारिणी-सभा से बाबू ब्रजनन्दनसहायजी द्वारा सम्पादित "मैथिल-कोकिल विद्यापति" नामक जो एक सटिप्पण हिन्दी-संस्करण प्रकाशित हुआ था उसके पदों की संख्या चार सौ है। वे सब पद प्रधानतया ग्रिअर्सन साहबवाले संस्करण और बँगला के संस्करणों से संगृहीत किये गये हैं, इसलिये उसमें मौलिक खोज का कुछ विशेष परिचय नहीं मिलता। इसके २-३ वर्ष बाद कलकत्ता से बङ्गीय-साहित्य-परिषत् वाला पूर्वोक्त संस्करण प्रकाशित हुआ और प्रायः उसी समय दरभंगा के महाराजबहादुर के सम्पूर्ण

व्यय से प्रयाग के इंडियन प्रेसवाला हिन्दी-संस्करण भी निकला। इन दोनों संस्करणों के सम्पादक श्रीयुत बाबू नगेन्द्रनाथजी गुप्त हैं। उन्होंने अपने बँगला-संस्करण के अनुसार ही हिन्दी-संस्करण छपवाया। पर मैं नहीं जानता कि किस कारण से उस संस्करण में कुछ पदों के बाद पाद-टीका नहीं दी गई। उन दोनों संस्करणों की पद-संख्या ८४० + ४४ + ३ + १३ + १५ + २० = ९३५ है। आगे चलकर मुझे इस संस्करण के विषय पर बहुत कुछ लिखना पड़ेगा; क्योंकि बेनीपुरीजी का संस्करण इसी के आधार पर लिखा हुआ है और किसी अन्य उत्कृष्ट प्रामाणिक संस्करण के अभाव के कारण अब हिन्दी-संसार ने उसी संक्षिप्त—और बहुत कुछ अशुद्ध—संस्करण से ही काम चलाना शुरू किया है। यहाँ यह भी कहना उचित होगा कि विद्यार्थियों के लिए "संक्षिप्त सूरसागर" जैसा विद्यापति का संक्षिप्त संस्करण ज़रूर होना चाहिये। बेनीपुरीजी ने अच्छे-अच्छे पदों को चुनकर और बहुत स्थलों में गुप्तजी की अशुद्धियों को अच्छी तरह से सुधारकर जो संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया, उसके लिए उनको मैं बधाई देता हूँ। गुप्तजी ने अपने संस्करण के विज्ञापन में लिखा है कि विद्यापति की पदावली के विषय में अद्वितीय विशेषज्ञ पण्डित और मिथिला के एक बड़े सुकवि कवीश्वर चण्डा झा (चन्द्र कवि) महोदय ने उस संस्करण के लिए पदावली का संग्रह और कठिन शब्द-आदि का अर्थ

किया था, क्योंकि वे इस विषय में गुप्तजी के शिक्षा-गुरु थे। जब विषय की कठिनाई के कारण ऐसे संस्करण में ही बहुत भूलें रह गयीं, तब दूसरे संस्करणों की कौन सी बात है। मैं आगे चलकर दिखाऊँगा कि स्वर्गीय झाजी के द्वारा संगृहीत मैथिल पदों में इतनी भूलें नहीं हैं जितनी गुप्तजी के द्वारा संगृहीत बङ्गीय पदावली में हैं। अतः उनमें से कुछ भूलों का संशोधन जो बेनीपुरीजी के द्वारा अच्छी तरह से हो सका इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। मेरी समझ में यदि बेनीपुरीजी गुप्तजी पर इतना निर्भर न होते और बङ्गीय पदावली के प्रामाणिक पाठ और अर्थ के लिए गुप्तजी के परवर्त्ती प्रामाणिक बँगला संस्करणों को अच्छी तरह से पढ़ लेते तो आपका संस्करण प्रामाणिक और अधिक विशुद्ध हो सकता था। अस्तु, आपने अपने समर्पण-पत्र में विद्यापति के विषय में हिन्दी-संसार के अनादर पर कुछ आक्षेप और कुछ मज़ाक़ के साथ जो लिख डाला, मैं यहाँ उसका अवतरण दूँगा। आपने क्या ख़ूब कहा! देखिये—

"हिन्दी के उन सफल समालोचकों के कुशल करों में—जो अपने फ़तवे को अकाट्य और अलंघनीय साबित करने के लिए 'नवरत्न' में दश रत्न घुसेड़ सकते हैं, जो देव को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये बिहारी की, एवं बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये कितने अन्य कवियों की कीर्त्ति पर सफ़ाई के साथ

पर्दा डाल सकते हैं, जो किसी विशेष कवि के श्रद्धालु समर्थकों को नीचा दिखाने के लिये दास को आकाश पर चढ़ा सकते हैं तथा जो केशव की कविता में तुलसी की कविता से अधिक काव्य-गुण पाते हैं—अभिनव जयदेव मैथिल-कोकिल विद्यापति की पदावली का यह संक्षिप्त संकलन उसके नौसिखे संकलयिता द्वारा सादर, सविनय और सभय समर्पित।"

वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास "शिवसिंह-सरोज" आदि पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में जो विद्यापति का उल्लेख नहीं पाया जाता, यह कुछ आश्चर्य का विषय नहीं है; परन्तु ग्रिअर्सन महोदय के और सहायजी के संस्करण प्रकाशित होते हुए भी विद्यापति को जो 'नवरत्न' में स्थान नहीं मिला इससे बढ़कर, हिन्दी-संसार में, विद्यापति पर अनादर-भाव होने का और कौन सा परिचय हो सकता है! सर ग्रिअर्सन का संकलन बहुत छोटा है। उसमें विद्यापति के उत्कृष्ट पद भी बहुत कम हैं। फिर भी उन्होंने विद्यापति की बहुत प्रशंसा की है।[1] मेरी समझ में हिन्दी-संसार में बिहारीलाल के लिए साहित्याचार्य पंडित पद्मसिंहजी शर्म्मा जैसे विद्यापति के लिए भी कोई सहृदय और शक्तिशाली समालोचक जब पैदा हो जायँगे तब यह साबित होना मुश्किल न होगा कि विद्यापति हिन्दी के किसी महाकवि से नीचे दर्जे का कवि नहीं है; यद्यपि खड़ी बोली की दृष्टि से उनकी भाषा हिन्दी, मैथिली और बँगला की मिश्रित खिचड़ी-सी है।

अस्तु, अब देखना चाहिये कि पूर्वोक्त चार संस्करणों से विद्यापति के एक सम्पूर्ण और प्रामाणिक विशुद्ध संस्करण का प्रयोजन कितना पूर्ण हुआ। पहले तो यही कहना पड़ता है कि ग्रिअर्सनवाले संकलन में केवल ८२ पद, सहायजी के संकलन में ४०० पद, और बेनीपुरीजी के संकलन में २६५ पद हैं। गुप्तजी के इंडियन प्रेस-वाले संस्करण में कुल ६७५ पद हैं; पर उसमें टीका-टिप्पणी होने के कारण वह भी पाठार्थियो के लिए पूरा लाभदायक नहीं है। इसलिये हिन्दी में अब तक एक सम्पूर्ण और सटीक संस्करण का अभाव रह गया।

अब देखना चाहिये कि और भी मौलिक खोज और आलोचना के बिना, पूर्वोक्त हिन्दी और बँगला-संस्करणों से एक सम्पूर्ण और प्रामाणिक सटीक संस्करण हो सकता है या नहीं? मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उक्त चार संस्करणों में—विशेषतया गुप्तजी के बड़े पोथे में—इतनी भूलें रह गई हैं कि विद्यापति के विशेषज्ञ मैथिल, हिन्दुस्तानी और बंगाली पण्डितों द्वारा "विद्यापति-सञ्जीवनी-समिति" नाम से एक समिति प्रतिष्ठित कर और उसकी सहायता से विद्यापति की सच्ची पदावली का सच्चा पाठ और अर्थ ठीक कर भूलों के संशोधन के बिना, कोई संस्करण किया जायगा तो वह कभी ठीक न होगा। इसके लिए इस सप्तदश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में मैं एक प्रस्ताव भी उपस्थित करूँगा। मुझे पूरी

आशा है कि आप कृपया इसकी ओर ध्यान देंगे और इस अभाव को दूर करने के लिए समीचीन प्रबन्ध करेंगे। हिन्दी में इस विषय की आलोचना अब तक बहुत कम हुई; अतः आलोच्य विषय पर कुछ प्रकाश डालने के लिए मैं अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार यहाँ बहुत संक्षेप से कुछ आलोचना करूंगा। मुझे आशा है कि सत्यता के निर्धारण के लिए की गई मेरी आलोचना की प्रगल्भता को आप कृपया क्षमा करेंगे।

गुप्तजी के संस्करण के अनुसार बेनीपुरीजी के संस्करण में भी निम्नलिखित चार श्रेणी की भूलें देखी जाती हैं :—

१—पद-निर्वाचन की भूल

२—पद-विन्यास की भूल

३—पाठ में भूल

४—अर्थ में भूल

पद-निर्वाचन की भूल

विद्यापति के पदों के साथ गुप्त जी के संस्करण में अन्य कवियों के कम से कम ७० पद विचार की भूल से चुन लिये गये हैं। गुप्त जी के अनुसार बेनीपुरीजी के बड़े संक्षिप्त संस्करण में भी अन्य कवियों के १६ पद उद्धृत हुए हैं। अपनी "अप्रकाशित-पद-रत्नावली" की भूमिका में गुप्तजी की इस भूल के विषय में मैंने कुछ विस्तार के साथ आलोचना की है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति निरर्थक है; अतः मैं बेनीपुरीजी के संकलन से ही इन सब भूलों के कुछ उदाहरण दूँगा। पूर्वोक्त चार प्रकार की भूलों के सम्बन्ध में गुप्तजी के संस्करण का अवलम्बन कर मैंने "श्रीश्री सोनार गौराङ्ग" पत्रिका* में बहुत विस्तार से "विद्यापति-विचार" नामक लेखमाला में विचार किया है। यह विचार-माला २-४ वर्षों तक चलेगी। मैं विशेष जिज्ञासु सज्जनों का ध्यान उसी की ओर आकर्षित करता हूँ।

(१)

बेनीपुरीजी का २७ संख्यक "पथ-गति नयन मिलल" इत्यादि पद, ८५ सं० "हरि-कर हरनि-नयन" इत्यादि पद, ८९

*श्रीश्री सोनार गौराङ्ग--मासिकपत्रिका। चरहामुया, पोस्ट शाहस्तागञ्ज, (ज़िला श्रीहट्ट), बंगाल। वार्षिक मूल्य ३) रुपये।

सं० "आजु विपरित" इत्यादि पद, ९२ सं० "ए धनि ऐसन कहबि मोय" इत्यादि पद, ११२ सं० "गगन अब घन मेह दारुन" इत्यादि पद, ११९ सं० "तपनक ताप तपत भेल महि-जल" इत्यादि पद, १२५ सं० "दुहु रूप-लावनि मनमथ-मोहनि" इत्यादि पद, १५१ सं० "कबहुँ रसिक सयँ दरसन होए जनु" इत्यादि पद, १६५ सं० "हम अबला सखि किये गुन जान" इत्यादि पद मिथिला की किसी पोथी में नहीं मिलता। यह सब गुप्तजी ने बँगला की 'पद-कल्पतरु' आदि पुस्तकों से संकलित किया है और उनके अनुसार बेनीपुरीजी के संस्करण में भी वही दे दिया गया। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि "कवि शेखर" विद्यापति का एक उपनाम था और उन्होंने इसी उपनाम से भी कुछ पदों की रचना की है। परन्तु इसमें भी कुछ सन्देह नहीं है कि प्रायः तीन सौ बर्षों के आगे बँगला में 'शेखरराय' या 'रायशेखर' नामक एक पहले दर्जे का कवि हुआ था। उन्होंने भी 'शेखर,' 'रायशेखर' और 'कवि शेखर' नाम देकर विद्यापति के अनुकरण से "ब्रजबुली" भाषा में बहुत पद रचे थे। विद्यापति की पदावली के साथ इस "कवि शेखर" के पदों का बहुत कुछ सादृश्य है; अतः केवल "कवि शेखर" नाम और भाषा का सादृश्य देखकर ऐसे पदों का रचयिता कौन कविशेखर है, यह निश्चित करना मुश्किल बात है। परन्तु एक ऐतिहासिक प्रमाण (Historical Evidence) और कुछ भाषा-गत और भाव-गत अन्तरङ्ग प्रमाण

(Internal Evidence) के सहारे से ऐसे कुछ पदों का ठीक पता लगाना सम्भव हुआ; क्योंकि रायशेखर ने केवल अपनी पदावली द्वारा श्रीराधा और श्रीकृष्णजी की अष्ट-कालीय नित्य व्रज-लीला का वर्णना-पूर्ण "दण्डात्मिका-पदावली"—नामक ग्रन्थ संकलित किया था; उसमें जो पद मिलते हैं वह किसी प्राचीन मैथिल पोथी में नहीं मिलते। अस्तु, कहा जा सकता है कि वह पद रायशेखर के हैं। उल्लिखित पद मैथिल पोथी नहीं पाये जाते; पर रायशेखर के "दण्डात्मिका" में हैं—इस ऐतिहासिक प्रमाण के कारण हम निःसन्देह कह सकते हैं कि यह सब पद विद्यापति-रचित नहीं हैं। इनमें से किसी-किसी पद के सम्बन्ध में कुछ अन्तरङ्ग-प्रमाण भी हैं। बेनीपुरीजी के ६२ संख्यक पद की पहली दो-चार तुक और अन्तिम तुक यह हैं—

ए धनि ऐसन कहबि मोय।
आजु जे कैसन देखिए तोय॥ २॥
नयन बयन आनहि भाँति।
कहइत कहिनि भूलसि पाँति॥ ४॥

× × ×

कह कवि शेखर कि कर आज।
कह न कहिनि सखिन समाज॥ १६॥

यह पद 'चौपाई' छंद का नहीं है। इसमें मैथिल और बँगला

व्याकरण के अनुसार 'आ', 'ए', 'ऐ' आदि गुरु-वर्ण विकल्प से लघु गिने जाते हैं और इसके प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होने चाहिये। बँगला में इसका नाम "एकावली-छन्द" होता है। अब देखिये कि ४ थ, १५ श, और १६श चरणों में कैसा छन्दो-भङ्ग हो गया! बंगाल की पोथियों में इन चरणों के बदले निम्न-लिखित पाठ है। यथा—

"कहिते काहिनी भुलसि पाँति।"
"कहये शेखर कि कर लाज।"
"कह ना काहिनी सखिर माज॥"

यद्यपि 'कहने में' के अर्थ में प्राचीन मैथिल भाषा में 'कहिते' हो सकता है, यह समझकर 'कहइत' पाठ के बदले 'कहिते' पाठ लिया जाय, तो भी अन्तिम दो चरण में जो छन्दोभङ्ग हो गया, उसका संशोधन बिना बँगला-पोथी के पाठ से नहीं हो सकता। एकावली-छन्द में प्रत्येक तीन-तीन अक्षर के बाद यति आ जाती है; इसलिये 'सखिन समाज' के बदले 'सखिसमाज' पाठ लेने से भी अनुचित-यति नामक छन्दोदोष लग जायगा। 'कह कवि शेखर' पाठ तो यहाँ सर्वथा असम्भव है; क्योंकि इससे पञ्चदश चरण में ११ अक्षरों के बदले १२ अक्षर आ गये हैं। यह कहना तो अनावश्यक है कि कविशेखर (विद्यापति) के लिए ही

केवल 'शेखर' नाम पदों की रचना में आया है। इसके सिवा यह नितान्त असंगत भी मालूम होता है।*

अब बेनीपुरी जी के ११२ संख्यक पद का कुछ अंश देखिये—

"गगन अब घन मेह दारुन,
सघन दामिनि झलकई॥
कुलिस पातन सबद झन-झन,
पवन खरतर बलगई॥ २॥

× × ×

तुरित चल अब किए विचारत,
जीवन मझु अगुसार॥
कबी सेखर बचन अभिसर,
किए से बिघिन-बिथार॥१०॥"

इस पद के प्रत्येक युगल चरण में—

३+४ ३+४

३+४+४

अर्थात् कुल २५ मात्रायें हैं। गुप्तजी के संस्करण में 'कबी सेखर' के बदले 'कवि सेखर' पाठ है। इस पाठ में तो एक

---

* नाम का एक देश प्रयुक्त हो सकता है, उपनाम का नहीं। विद्यापति का उपनाम "कवि शेखर" है, केवल "शेखर" नहीं। "शेखर" से विद्यापति का बोध नहीं हो सकता।

मात्रा की कमी हो जाती है। कदाचित् इसीलिये, बेनीपुरीजी ने 'कबी सेखर' जैसा एक काल्पनिक पाठ दिया है; परन्तु बंगीय पोथियों में ऐसा पाठ कहीं भी नहीं है। वहाँ प्रामाणिक पाठ यह है—

"राय शेखर बचने अभिसर,
किये से बिघिन बिथार॥"

क्या 'कवि शेखर' जैसा 'राय शेखर' भी विद्यापति का एक उपनाम समझना चाहिये? इस पद की रचना कैसी अनूठी और विद्यापति के पहले दरजे के पदों के साथ टक्कर देनेवाली है और केवल भाषा के सादृश्य से नाम-हीन कुछ पदों को विद्यापति का रचित बताना—जैसा गुप्तजी ने और बेनीपुरीजी ने बताया—कैसे दुःसाहस की बात है, यह भी सोचिये।

बेनीपुरीजी के १२५ संख्यक पद में केवल 'सेखर' का नाम मिलता है। यथा—

"सेखर बुझि तब करि कत अनुभव,
अनुभव दुहु सँग भंग कराव॥
निज निज मन्दिर गमन करल दुहु,
गुरुजन भेद न पाव"॥

गुप्तजी ने ऐसे 'सेखर' नाम-वाले कुछ पद भी विद्यापति के संकलन में ले लिये हैं। इसप्रकार 'शेखर' या 'रायशेखर'

पर पूरा अविचार-सा मालूम होता है। यहाँ और भी सोचने का विषय यह है कि गौड़ीय वैष्णवों में सखी-रूप सेवा, जो सर्वोत्तम साधना कही गई है, के अनुसार अनुगा सखी के रूप से राय शेखर ने, मिलन-भङ्ग के लिए, उचित समय हुआ जानकर, श्रीराधा-कृष्ण के मिलन का भंग करा दिया है। ऐसी सखी-सुलभ गुह्य सेवा का अधिकार वैष्णव-साधकों के लिए ही सम्भव होता है। विद्यापति जैसे शैव-धर्मावलम्बी के लिए ऐसी गुह्य सेवा पूर्ण रूप से असंगत मालूम होती है। कवि शेखर या शेखर के नामवाले इन आलोच्य पदों में सखी-सुलभ सेवा का ऐसा कुछ न कुछ उल्लेख और भी बहुत स्थलों पर मिलता है; इसलिए अर्थ-गत अन्तरङ्ग प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि यह सब पद विद्यापति के नहीं, वरन् बंगाली वैष्णव कवि रायशेखर की रचना के हैं।

(२)

अब नाम-हीन पदों की ओर देखिये। नाम-हीन पद-भंडार तो एक हिसाब से कुछ लावारिसी माल है। इस पर तो सब का दावा हो सकता है। इस बात के लिए विचारक को बड़ा सावधान रहना चाहिये कि अज्ञान के कारण किसी अनधिकारी को अनुचित दख़ल न मिल जाय। मैथिल ताल-पत्र की पुस्तक में और नैपाल-दरबार की पुस्तक में जितनी नाम-हीन पदावली मिली थी, गुप्तजी ने वह सब विद्यापति के संस्करण में दे दी है; क्योंकि उन्होंने समझा है कि विद्यापति-पद-संग्रह ग्रन्थ में दूसरे

किसी कवि के पदों का रहना असम्भव है—चाहे उसमें कवि का नाम हो या न हो। इस विषय के विचार का भार मैं मिथिला-वासी बेनीपुरीजी के ऊपर देता हूँ; क्योंकि इस विषय पर विचार करने की योग्यता मुझ में नहीं है। मेरा वक्तव्य केवल यह है कि नाम-हीन (?) बंगीय कुछ पदों को गुप्तजी ने और उनके अनुसार बेनीपुरीजी ने जो विद्यापति-रचित बताया, मेरी तुच्छ समझ में वह ठीक नहीं है। क्योंकि किसी किसी बङ्गीय पोथी के अनुसार उन सब पदों में दूसरे कवियों का नाम मिला है; और पूर्वोक्त अन्तरङ्ग प्रमाण से भी वे सब पद बंगाली वैष्णव कवियों के रचे हुए मालूम होते हैं।

अब बेनीपुरीजी के संकलन से कुछ उदाहरण लीजिये।

बेनीपुरीजी के १३५ संख्यक "आध मुदित भेल" इत्यादि पद में कवि का नाम नहीं है। गुप्तजी ने वह पद बंगीय "कीर्त्तनानन्द" पोथी से चुना है। आनन्द की बात है कि इस लेखक की खोज से बङ्गीय-साहित्य-परिषत् की "पद-रत्नाकर" पोथी में इस पद की अन्तिम दो तुक मिल गयीं; जिसमें बङ्गीय कवि 'बलराम' का नाम है। यथा—

"चिर दिन पुन-फले प्रातरे हेर लुँ
तुअ मुख भ्रामर पद्म।
बलराम कहे अब ताहिँ गमन कर
जहां तुअ पिरिति क सद्म॥"

यह पद मैथिल या नैपाल की पोथी में नहीं है। इसकी भाषा भी विद्यापति की भाषा से बहुत कुछ अलग है और "पद-रत्नाकर" से इसके रचयिता का नाम भी मिल गया; इसलिये इसको ज़रूर बँगला के वैष्णव कवि बलरामदास की रचना समझना चाहिये।

बेनीपुरीजी के १४६ संख्यक (गुप्त जी के ४१५ सं०) "मानिनि हम कहिये तुअ लागी" इत्यादि नाम-हीन पद बंगीय "पद-कल्पतरु" पुस्तक से चुना गया; इस पद के अन्तिम दो चरण ये हैं—

तुहु धनि गुनवति बुझि करह रिति,
परिजन ऐसन भास।
सुनइते राहि हृदय भेल गदगद,
अनुमति कएल प्रकास॥

खोज से इस लेखक की "पद-रत्नाकर" पोथी में इसके रचयिता का नाम भी मिल गया। यथा—

"तुहु धनि गुनवति बुझि करह रिति,
ऐसन बलराम-भास।" इत्यादि

बलराम के इन दोनों पदों में बेनीपुरीजी और गुप्तजी ने पाठ और उसके अर्थ में जो बड़ी कौतुक-जनक भूल की है, आप आगे चलकर वह भी देखेंगे।

(३)

अब पद-निर्वाचन की एक कौतुक-जनक भूल देखिये।

'बल्लभ' नामक एक बंगाली वैष्णव कवि थे। उन्होंने शब्द-श्लेष के सहारे से अपने पदों में अपना नाम बड़ी चतुरता के साथ दे दिया है। यथा—

"बल्लभ उज्जल निकष-समान।
निज-सनु परिख हेम दस बान॥" (४८ सं० पद)

"अभिसरु बल्लभ-हृदय विराजहु,
जनु मनि काञ्चन-दाम॥" (४६ सं० पद)

"एत कहि आनल धनि हरि पास,
पूरल बल्लभ सुख-अभिलास॥" (६६ सं० पद)

इत्यादि

इन सब पदों में 'बल्लभ' शब्द से श्रीराधा के बल्लभ श्रीकृष्णजी को और सखी-स्थानीय वैष्णवपद-रचयिता कवि बल्लभ को समझना चाहिये। मैं नहीं जानता कि किस कारण गुप्तजी ने 'बल्लभ' शब्द से केवल श्रीकृष्ण को जानकर और उसे कर्तृ-नाम-हीन समझकर इन सब पदों को भाषा के सादृश्य के कारण विद्यापति के संकलन में दे दिया। 'कवि सेखर' के समान 'बल्लभ' भी विद्यापति का एक उपनाम था—यह बात अब तक किसी ने नहीं कही। गुप्तजी ने ६६ संख्यक पद की टीका में लिखा है कि—"बल्लभेर (माधवेर) सुख अभिलास पूर्ण हइल।" यहाँ विद्यापति के नाम की गन्ध भी नहीं है; पर आश्चर्य की बात है कि बेनीपुरीजी ने इस पद की टीका में लिख

डाला कि—"बल्लभ विद्यापति का उपनाम !" क्या आप कृपया बतावेंगे कि यह तथ्य आपको कहाँ से मिला ? बंगाल में विशेषज्ञों को यह अज्ञात नहीं है कि 'बल्लभ' हरिबल्लभ नाम का संक्षेप है और हरिबल्लभ "श्रीकृष्ण-भावनामृत" इत्यादि प्रसिद्ध संस्कृत-काव्यों के रचयिता वैष्णवाचार्य विश्वनाथ चक्रवर्त्तीजी का गुरुदत्त नाम था। उन्होंने इस हरिबल्लभ (संक्षेप में बल्लभ) नाम से बहुत से बँगला और व्रज-बोली के पद रचकर अपने और दूसरे कवियों के पदों से "गीत-चिन्तामणि' नामक एक पद-ग्रन्थ संकलित किया था। यहाँ हमें यह भी कहना पड़ेगा कि बेनीपुरीजी के संस्करण में "बल्लभ उज्ज्वल" इत्यादि अन्तिम तुक भूल के कारण छोड़ दी गई है और व्रजनन्दनसहायजी के संस्करण में उसके बदले निम्न-लिखित अप्रामाणिक और काल्पनिक पाठ दिया गया है। यथा—

"विद्यापति हरि निकप समान।
निज तनु परिख हेम दस बान॥"

भूल के कारण कुछ चरणों को छोड़ देना कोई असम्भव बात नहीं है; पर जान-बूझकर पाठ को ऐसा बदलना तो सम्पादकों के लिए कुछ साहस का ही काम समझना चाहिये। यहाँ प्रसङ्ग-वश यह भी कहना पड़ता है कि बेनीपुरीजी ने प्रशंसनीय सरलता के साथ 'धन्यवाद' के पृष्ठ में लिखा है कि—"इस पुस्तक के पदों के संकलन में मुझे नगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा सम्पादित और

जस्टिस शारदाचरण मित्र द्वारा प्रकाशित बँगला "बिद्यापतिर पदावली" से अधिक सहायता मिली है।" गुप्तजी का वँगला संस्करण बँगला १३१६ साल में प्रकाशित हुआ था और सहायजी का संस्करण वि० १९६५ सं० अर्थात् बँगला १३१४ साल में। गुप्तजी के संस्करण में सहायजी का और सहायजी के संस्करण में गुप्तजी का कहीं भी उल्लेख नहीं है। परन्तु उक्त दोनों संस्करणों को मिलाकर ध्यानपूर्वक पढ़ने से मालूम होता है कि चाहे जिस प्रकार से हो, सहायजी ने गुप्तजी के संस्करण की पाण्डुलिपि उसके प्रकाशन के २।३ बरस पहले ही देखी होगी; क्योंकि ऐसे कुछ पद—उसके पाठ और अर्थ की भूल तक—सहायजी के संस्करण में आ गये हैं, जो बंगाल में गुप्तजी ने ही सबसे पहले प्रकाशित किये और जिसकी आदर्श "कीर्त्तनानन्द" पोथी गुप्तजी के अधिकार में थी। इसलिए निस्सन्देह सहायजी ने पूर्वोक्त पद गुप्तजी से पाकर अपने अन्दाज़ से उसकी अन्तिक तुक का पाठ बदल दिया। सहायजी के संस्करण में ऐसे अप्रामाणिक पाठ-परिवर्त्तन के और भी उदाहरण मिले हैं। बेनीपुरीजी के संस्करण में कुछ अप्रामाणिक और अनुचित पाठ-परिवर्त्तन के उदाहरण मिलते हैं, उन्हें मैं आगे चलकर दिखलाऊँगा। यह नहीं समझना चाहिये कि मैं सहायजी के ऊपर कुछ अनुचित अनादर दिखलाता हूँ। उनके संस्करण में भी बहुत कुछ प्रशंसनीय विषय हैं; विशेषतया

गुप्तजी के भी कुछ आगे बढ़कर आपने बंगाल के "पद-कल्पतरु" आदि ग्रन्थों को ढूँढ़कर जो ग्रिअर्सन-वाले संस्करण से बहुत बड़ा और अच्छा एक संस्करण प्रकाशित किया, इसलिए आप हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। अस्तु, अब पद-निर्वाचन का और भी एक कौतुक देखिये।

(४)

"पद-कल्पतरु" में "सिंह भूपति" के ६ पद और 'सिंह नृपति' का १ पद है। इन सब पदों की भाषा एक-सी है। गुप्तजी ने इसमें से केवल तीन पद अपने संस्करण में उद्धृत किये हैं और बेनीपुरीजी ने भी उसमें से एक "मदन-कुंज पर बइसल" इत्यादि १३९ संख्यक पद संकलित किया है। गुप्त जी ने लिखा है कि—"सिंह भूपति भणिता-युक्त सकल पद विद्यापतिर रचित। सिंह भूपति—शिवसिंह।" इस विषय पर मेरा वक्तव्य यह है कि "सिंहभूपति" नाम से राजा शिवसिंह को ही समझना चाहिये, ऐसा कोई कारण नहीं मिलता। यदि राजा शिवसिंह इन पदों के रचयिता होते, तो इन पदों में एक भी मैथिल ताल-पत्र पोथी में नहीं मिलता। यह बड़े आश्चर्य की बात है। यदि ऐसा ही हो तो ये सब पद विद्यापति के संकलन में किस तरह से उद्धृत हो सकते हैं? इन पदों के रचयिता होने के कारण विद्यापति क्यों "सिंहभूपति रस गाव"—इस तरह की अलीक उक्ति कहते, यह विचारणीय है। संस्कृत-साहित्य

में एक किंवदन्ती है कि 'धावक' नामक एक कवि ने रत्नावली-नाटिका लिखकर अपने आश्रय-दाता राजा श्रीहर्ष के नाम से प्रचलित की। पर विद्यापति के विषय में ऐसी किंवदन्ती भी प्रचलित नहीं है। तब किस तरह से विद्यापति को इन पदों का रचयिता स्वीकार किया जाय ? अस्तु, 'सिंहभूपति' अगर विद्यापति हों तो 'भूपतिनाथ' और 'भूपति' के नाम-वाले पदों को भी क्या विद्यापतिरचित स्वीकार करना पड़ेगा ? 'भूपति' और 'भूपतिनाथ' के ६ पद भी बँगला पद-कल्पतरु ग्रन्थ से ही मिलता है। उसमें निराला बँगला पद भी है, जो विद्यापति का नहीं हो सकता। इसलिये मेरी समझ में 'सिंहभूपति', 'भूपति' और 'भूपतिनाथ' वाले पदों को विद्यापति के संकलन में उद्धृत करना बड़ी भूल है। बेनीपुरीजी के १६३ सं० 'वर नागर साजइ नागरि वेसा" इत्यादि बहुत बड़े 'बिदेसिनि-मिलन' के पद में 'भूपति' का नाम है और उस पद की रचना-शैली भी विद्यापति की कविता से कुछ निराली है।

(५)

अब और एक समस्या का विचार करना होगा। बंगाल के "पद-कल्पतरु" में "चम्पति" कवि का पद और "चम्पतिराय" का एक पद है। गुप्तजी ने इसमें से ४ पद अपने संस्करण में उद्धृत किये हैं। उनके ५७३ संख्यक पद का कुछ अंश देखिये—

"पालङ्के शयन घूमे अचेतन
दीघल बहय शास।

दीप कर लइ लुबुध माधव
आओल हमर पास ॥
× × ×
हासिक रभसे बांधि भुजपाशे
विलसे आधक सुख ।
ठम्पति पति बेकत कहय
चोर क निलज मुख ॥"

गुप्तजी ने टीका में लिखा है कि—"ठम्पति पति—कवि चम्पति विद्यापति। फिर उन्होंने ४०१ संख्यक "माधव दुर्जय मानिनि मानि" इत्यादि पद की टीका में लिखा है—"मिथिलार एक ही असम्पूर्ण पदे "कवि चम्पई" पाओया गिया छे।" गुप्तजी का, या उनके उपदेश देने वाला चण्डा झाजी का, विचार यह है कि "कवि चम्पइ' नामक कोई कवि मिथिला में नहीं पाये जाते, तब वे विद्यापति के सिवा दूसरे कौन होंगे? मैं ऐसी युक्ति का पक्ष-पाती नहीं; क्योंकि चम्पति कवि के उन १० बंगीय पदों में "पद-कल्पतरु" का १६७४ संख्यक—

"मथुरार नाम शुनि पराण केमन करे।
वड़ मने साध लागे कानु देखिवारे ॥"

इत्यादि पद निराली बँगला में है; और २०२५ संख्यक पद की अन्तिम तुक में उनका 'राय चम्पति' नाम भी मिलता है। यथा—

(मधु) "चीत गेओ ताहाँ देह रहु इहाँ
कहलुँ मरम क बात ।
(निज) चरण प्रियजन राय चम्पति
रचइ भाविनि साथ ॥"*

'कवि-शेखर' जैसा 'कवि चम्पति' किसी का उपनाम नहीं हो सकता । इसलिए इन सब 'ब्रज-बोली' पदों का कृतित्व विद्यापति के ऊपर लगाना अनुचित मालूम होता है; और ऐसा हो भी, तो १६७४ संख्यक बँगला पद की और 'राय चम्पति' नाम-वाले पद की कौन-सी गति होगी ? क्या वह दोनों पद भी विद्यापति के ही बताये जायँगे ? मेरी समझ में इन सब पदों में एक भी विद्यापति का नहीं है । प्रायः दो सौ बरस के पूर्ववर्त्ती पद-रचयिता और "पदामृत-समुद्र" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के सकलयिता राधामोहन ठाकुर ने स्वरचित संस्कृत-टीका में लिखा है कि "श्रीगौरचन्द्र-भक्तः श्रीप्रतापरुद्रमहाराजस्य महापालश्चम्पतिरायनामा महा-भागवत आसीत् । स एव गीतकर्त्ता । तस्य सिद्धि दशाया-मपि तन्नाम ।" इस प्राचीन वाक्य से निस्सन्देह कह सकते हैं कि वही चम्पतिराय नामक कवि इन सब पदों का रचयिता है । गुप्तजी द्वारा "पालङ्के-शयनधूमे अचेतन" इस पद की भाषा को कुछ बदल देने से भी उससे बँगला कविता की गन्ध आती है, यह

*मत् सम्पादित बङ्गीय साहित्य-परिषत्वाले "पद-कल्पतरु" तृतीय भाग का १९७ पृष्ठ देखिये ।

भी ज़रूर कहना पड़ेगा। बेनीपुरीजी ने गुप्तजी के ४०१ संख्यक (बेनीपुरी जी के २४६ सं०) पद की अन्तिम तुक के "कवि चम्पति कह" इत्यादि पाठ के बदले "विद्यापति कह" इत्यादि पाठ लिया। मैं नहीं जानता कि यह पाठ कहाँ मिला। ऐसा पाठ अप्रमाणिक है। गुप्तजी के ४२० संख्यक (बेनीपुरीजी के १४८ सं०) पद की अन्तिम तुक में भी ऐसा ही पाठ-परिवर्तन हो रहा है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा अप्रमाणिक परिवर्तन बड़ा अनुचित है। आदर्श पुस्तक के पाठों के कुछ परिवर्तन करने की ज़रूरत हो जाय तो टीका में उसे साफ़-साफ़ बता देना चाहिये।

पद-विन्यास की भूल

ब पद-विन्यास या पदों की सजावट के विषय में कुछ विचार करना चाहिये। पदों के संकलयिता के लिए अच्छी तरह से पदों की सजावट करना, एक बड़े गुण का काम है; क्योंकि फुटकर पदों का सौन्दर्य्य बहुतायत से, उसकी सजावट के ऊपर, निर्भर है। हमारे अलङ्कारिकों की सम्मिलित सम्मति यह है कि सबसे पहिले 'मङ्गलाचरण' द्वारा काव्य का आरम्भ करना चाहिये। फिर काव्य का विषय शृङ्गार या नायक-नायिका का प्रेम हो तो नायक के अनुराग-वर्णन के पहले नायिका के अनुराग का वर्णन करना चाहिये*। वह अनुराग महाश्वेता या श्रीराधा जैसी परकीया नायिका और पुण्डरीक या श्रीकृष्ण जैसे नायकों के विषय में हो, तो नायक-नायिका के सम्मेलन के लिए दूती का भी प्रयोजन होता है। प्रिय-सङ्गम के लिए 'उत्कण्ठिता' नायिका को 'अभिसारिका', 'वासकसज्जा', 'विप्रलब्धा' 'खण्डिता' 'कलहान्तरिता' इत्यादि दशा के संयोग से नाना प्रकार की परिस्थितियाँ आ जाती

---

* "आदौ वाच्यः स्त्रियारागः पश्चात् पुंसस्तदिङ्गि तैः।"

—साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद।

हैं। अब देखना पड़ेगा कि गुप्तजी और बेनीपुरीजी के संस्करण में रस-पर्याय का यह सुन्दर और स्वाभाविक क्रम कितना ठीक रखा गया है। गुप्तजी के अनुसार बेनीपुरीजी ने पहले वन्दना के लिए दूती की उक्ति का।

'नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु-तर धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव॥"

इत्यादि पद दिया है। क्या यह पद 'मङ्गलाचरण'-सूचक वन्दना का है? इस पद में तो संकेत-भवन में जाने के लिए दूती श्रीराधाजी की विनती कर रही है। यह पद कैसे मङ्गलाचरण हो सकता है? गुप्तजी के अनुसार बेनीपुरीजी ने ४ संख्यक पद से ९ संख्यक तक जितने दूती-वर्णित 'वयः सन्धि' के पद दिये गये वे सब श्रीराधाजी के और और श्रीकृष्णजी के अनुराग-सञ्चार के बाद देने चाहियें, क्योंकि यहाँ उन पदों का मौक़ा नहीं है। इसके लिए १० और १२ संख्यक दूती-वर्णित 'नख-शिख' का पद भी यहाँ नहीं आ सकता। बेनीपुरीजी का ११, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१ और २२ संख्यक श्रीकृष्ण-वर्णित अनुराग-सूचक 'नख-शिख' के पदों का भी यहां मौक़ा नहीं है; क्योंकि आगे श्रीराधाजी का ही अनुराग दिखलाना चाहिये। फिर बेनीपुरी जी ने "सद्यः स्नाता" के विषय में २३ संख्यक पद से २६ संख्यक पद तक जो चार पद दिये हैं, वह भी श्रीकृष्णजी के अनुराग-

सूचक है; इस कारण यहां नहीं देने चाहिये। "श्रीकृष्ण का प्रेम" विषय में दिये गये २७ संख्यक से ३५ संख्यक तक पदों का भी यहां मौक़ा नहीं है। वे सब श्रीराधा के प्रेम-विषयक ३६ संख्यक से ४४ संख्यक पदों के बाद देने चाहिये। ध्यान देकर पढ़ने से मालूम होगा कि फुटकर पदों की सजावट की बात कौन कहे 'अनुराग, 'नख-शिख' आदि भारी विषयों की सजावट में भी ऐसी और बहुत भूलें आ गई हैं। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि बेनीपुरीजी के संस्करण में पदों की संख्या बहुत कम होने के कारण पदों की सजावट में कुछ सुभीता था, इसलिये उसकी गड़बड़ भी कुछ कम देख पड़ती है। विद्यापति के फुटकर पदों की सजावट का विचार इतना कठिन और लम्बा-चौड़ा विषय है कि उदाहरण के सहित उसकी आलोचना करने से एक बड़ा पोथा हो सकता है। इसलिए मुझे यहाँ केवल इतना ही कहना चाहिये कि भविष्य में विद्यापति के सम्पादकों को इस बात पर ख़ूब ध्यान देना होगा कि सजावट की त्रुटि से पदों में सुगमता और सुन्दरता को हानि न पहुँच जाय।

पाठ की भूल

द-निर्वाचन की आलोचना में इच्छा-कृत और अनिच्छा-कृत पाठाशुद्धि के कुछ उदाहरण आप पा चुके। अब बेनीपुरीजी के संस्करण से उसके और कुछ उदाहरण लीजिये।

(१)

"सैसव जोवन उपजल बाद।
केओ न मानए जय-अवसाद॥
विद्यापति कौतुक बलिहारि।
सैसव से तनु छोड़ नहिं पारि॥"(७ सं० पद)

"सैसव से तनु" इत्यादि वाक्य की टीका में बेनीपुरीजी ने लिखा है—"शैशव को उसका शरीर छोड़ना ही पड़ेगा।" गुप्तजी ने—शैशव से तनु छोड़ नहिं पारि।" पाठ लेकर अर्थ लिखा है कि "शैशव से देह के छाड़िते पारे ना।" सहायजी ने काव्य-विशारदजी के बङ्गीय संस्करण के अनुसार "शैशव सो तछु छोड़ न पारी।" पाठ लेकर अर्थ लिखा है—"तछु (तसु) = उसको। शैशव इत्यादि = लड़कपन की वह छोड़ नहीं सकता।

वास्तव में हिन्दी और आधुनिक मैथिली में 'सकना' के अर्थ

में 'पारना' का प्रयोग मिलता है, फिर भी विद्यापति के पदों में ऐसा प्रयोग बहुत है, जैसा—"लुबुधल नयन हृदय के पार," "कहिय न पारिय पहु मुख भासा" इत्यादि। इसलिए गुप्तजी का अर्थ अर्थात् शैशव उस तनु को छोड़ नहीं सकता—बहुत ठीक है। सहायजी का तात्पर्य भी ऐसा ही है। केवल "तनु" के बदले 'तहु' पाठ के कारण एक ही बात दूसरे ढङ्ग से कही गई। किन्तु आश्चर्य की बात है कि बेनीपुरीजी ने सहज पाठ और अर्थ को छोड़कर उसमें ऐसी भूल की। 'पड़ना' के अर्थ में 'पारना' का प्रयोग किसी भाषा में नहीं है। "कहना पड़ेगा" "छोड़ना पड़ेगा" इत्यादि भाषा की रीति भी विद्यापति की मैथिली में नहीं मिलती; और ऐसा अर्थ करना भी कवि का अभिप्राय नहीं हो सकता; क्योंकि उन्होंने इस 'वयः सन्धि' के पद में शैशव और यौवन के संयोग का ही वर्णन किया है। कवि का अभिप्राय यह ही मालूम होता है कि नायिका श्रीराधा शृङ्गार-रस के उपभोग के लिये यद्यपि शैशव को छोड़ना चाहती थी, पर छोड़ नहीं सकी और यौवन के साथ रहनेवाला उनका शैशव भी उनकी शोभा के लिये ही लाभ-दायक हो गया। 'कौतुक' शब्द की ध्वनि से यह अर्थ ही निकलता है। अन्यथा—एक समय "शैशव को उसका शरीर छोड़ना ही पड़ेगा"—इस सीधी उक्ति में क्या "कौतुक" या चमत्कार हो सकता है? इस अर्थ के साथ महाकवि विहारीलाल के दोहा की तुलना कीजिये।

"छुटी न सिसुता की झलक झलक्यो जोवन अङ्ग ।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रङ्ग ॥"

(२) "सजल चीर रह पयोधर सीमा ।
कनक-बेल जनि पड़ि गेल हीमा ॥
ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा ।
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा ॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा ।
इथे लागि रोइ गरए जल धारा ॥" (२५ सं० पद)

बेनीपुरीजी का टीका:—"पयोधर सीमा—**कुचों पर ।** कनक वेल = सोने का विल्व फल । पड़ि गेल = पड़ गया । हीमा = बर्फ । ओ = वह (वस्त्र) । नुकि करत हि चाहि = छिपना चाहता है । किये = क्यों । ऐसन = ऐसा । आरा = अन्यत्र । इथे = इसलिये ।"

सहायजी और गुप्तजी का पाठ और अर्थ भी ऐसा ही है । इस पाठ और अर्थ के विषय में इतना ही पहले कहना चाहिये कि इस बङ्गीय पद के 'ओ नुकि' इत्यादि पाठ के बदले 'पद-कल्पतरु' की बहुत नयी और अशुद्ध 'क' पोथी में 'ओ नुक करतहि देहा' यह छन्दो-भङ्ग दुष्ट पाठ है । पुरातन और शुद्ध 'ख,' 'ग,' 'घ,' 'च' आदि पोथियों में पाठ है—'तुल कि करइते' या 'ओल कि करइते' इत्यादि । बँगला

प्राचीन हस्त-लिखित पोथी में 'तु' अक्षर 'ओ' अक्षर जैसा, दीख पड़ता है। इसलिए 'तुल' 'ओल' भी हो सकता है। कुछ सम्पादकों ने 'तुल कि करइते' इत्यादि प्रमाणिक पाठ स्वीकार कर यथामति इसके अर्थ करने का यत्न किया। इस लेखक ने भी प्राय दश बरस के आगे साहित्य परिषत्-वाले 'पद-कल्पतरु' में 'तुल कि करइते' इत्यादि पाठ ले कर, अर्थ किया है कि—कौन (अपने) देह को 'तुल' अर्थात् आर्द्र वस्त्र के तुल्य करना चाहता है—इत्यादि। ऐसे अर्थ में कुछ कष्ट-कल्पना होती है; इसलिए अधिक खोज करने से मुझे संस्कृत "शब्द-कल्पद्रुम नामक बहुत बड़े कोष-ग्रन्थ में 'आर्द्र' के अर्थ में 'ओल्ल' शब्द मिल गया। तब मेरी समझ में आया कि आधुनिक हिन्दी या बँगला में 'ओल्ल' शब्द के अपभ्रंश 'ओल' का प्रयोग मिलने से भी यहाँ ठीक पाठ 'ओल' ही होगा। बँगला में एक प्रकार की शर्करा की गोली को—जो शरबत के लिये पानी में डालने से ही गलती जाती है—'ओला' कहा जाता है (हिन्दी में खांड के लड्डू को 'ओला' कहते हैं)। इससे भी प्रमाणित होता है कि 'ओला' का अर्थ 'आर्द्र' है। 'ओल कि करइते चाहे किए देहा' इस कथा का अर्थ यह होगा कि—कौन देह को (बहुत काल तक) आर्द्र करना चाहता है? अभी मुझ से प्रेम-सम्बन्ध त्याग कर मुझको छोड़ देगा; मैं ऐसा (अङ्ग-स्पर्श-जनित) आनन्द अब नहीं पाऊँगा, इसलिये श्रीराधा का वस्त्र रोता है

और उसका अश्रु-जल जल-धारा के छल से गलता है। 'ओ नुकि करतहि' इत्यादि पाठ किसी प्रमाणिक पोथी में नहीं मिलता, और ऐसा पाठ स्वीकार करने से अर्थ में भी कुछ ऐसी शङ्का आ जाती है, जिसका समाधान नहीं होता; क्योंकि 'सजल चीर' आदि तुकों में कहा गया है कि पयोधरों के प्रान्त में वह वस्त्र ऐसा मालूम होता है, जैसा किसी स्वर्णमय विल्वफलों के ऊपर पाला पड़ रहा है। सोने के पीले रङ्ग में पाला जैसा श्वेत वस्त्र का छिपना सम्भव नहीं तब श्वेत वस्त्र क्यों श्रीराधा के अङ्ग में छिपने की व्यर्थ चेष्टा करेगा? मूर्खता के कारण ऐसी चेष्टा भी करे तो फिर छोड़ जाने के आगे ही क्यों छोड़ जाने की आशङ्का से रोयेगा? मेरी समझ में तो यही आता है कि ऐसा पाठ और अर्थ कवि का अभिप्रेत नहीं है। कवि ने जिस वस्त्र को ऐसी 'रसज्ञता' दी है उसमें ऐसी मूर्खता नहीं समझनी चाहिये। कही कहीं टीकाकारों के अतिपाण्डित्य के कारण कैसी कष्ट-कल्पना आ जाती है, यह पाठ और अर्थ उसका एक अच्छा उदाहरण है।

(३) "जहाँ-जहाँ पग-जुग धरई।
तहिं तहिं सरोरुह भरई॥
कि हेरल अपरुब गोरि।
पइठल हिय मधि मोरि॥" (३५ सं० पद)

---

*हिन्दी में "ओल्ल" का अपभ्रंश 'आला' (गीला) व्यवहृत है।

गुप्तजी के संकरण में 'हिय मधि' के बदले 'हिय माहा' पाठ है। इस पद के प्रत्येक चरण में १२ मात्रा है; इसलिए 'जहाँ जहाँ' के बदले 'जहँ जहँ' शुद्ध पाठ होगा। तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की चौपाई में छन्द के लिये 'जहाँ' और 'तहां' के बदल 'जहँ' और 'तहँ' का प्रयोग बहुत है। 'हिय मधि' के बदले भी 'हिय महँ' शुद्ध पाठ होगा; क्योंकि विद्यापति के पदों में 'मधि' बहुत कम मिलता है। सहाय जी के संस्करण में 'जहँ-जहँ' और 'हिय मँह' ठीक पाठ है, पर मेरी समझ में प्रेस की भूल से चन्द्रविन्दु की उलट-पुलट हो गई है।

(४) "केओ केओ जपए वेद दिठि जानि।
केओ नवग्रह पुज जोतिअ आनि॥ (५४ सं० पद)

टीका—'पुज = पूजता है। जोतिअ—जोतिषी। आनि = लेआकर, बुलाकर।

गुप्तजी का पाठ 'पुज' के बदले 'पुछ' है। वही ठीक पाठ होगा। बँगला पोथी में 'जोतिअ' के बदले 'जोतिख' प्रामाणिक पाठ है। 'ज्योतिष' या 'ज्योतिषी' शब्द के मैथिल या बँगला अपभ्रंश में 'जोतिअ' नहीं हो सकता। मेरी समझ में 'पुछ' पाठ से 'पुज' पाठ अच्छा है। यह समझकर बेनीपुरीजी ने पाठ का परिवर्त्तन कर दिया; पर सोचने से मालूम होगा कि

'पुछ' पाठ बहुत ठीक है; क्योंकि किसी के लिये नौ ग्रह एक-कालीन अशुभदायक नहीं होते और ऐसा होने से वह जन्तु बच नहीं सकता। 'केओ नव ग्रह पुछे जोतिख आनि' वाक्य का तात्पर्य यह कि श्रीराधा की कोई सखी ज्योतिषी को बुलाकर उन नव ग्रहों की दशा पूछती है; क्योंकि ज्योतिष के विचार से यदि कोई ग्रह अशुभ हो जाय तो उसी की प्रसन्नता के लिये जप, दान आदि किया जायेगा। शुभ ग्रह के लिये जप-दान आदि काम नहीं किया जाता। इसलिये महाकवि विहारीलाल ने क्या मजाक़ के साथ कहा है:—

"बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान॥"

(५)

"परिहर ए सखि तोहे पर नाम।
हम नहि जाएब से पिया-ठाम॥

❀ ❀ ❀

विद्यापति कह कि बोलब तोए।
आजुक मीलल समुचित होए॥" (६५ सं० पद)

टीका—"आजुक = आज का। मीलल = मिलना।" गुप्त जी और सहायजी के संस्करण में अन्तिम चरण का पाठ है—"आजुक मीलन समुचित होय।" यही प्रमाणिक है, क्योंकि

"मिलन" के अर्थ में मैथिल और हिन्दी में 'मिलन' 'मिलब' और 'मिलाप' शब्दों का प्रयोग पाया जाता है; 'मीलल' का प्रयोग नहीं है। छन्द के लिए 'मिलन' के बदले यहाँ 'मीलन' लिखा हुआ है। विद्यापति की भाषा में 'मिलल' या 'मीलल' का अर्थ 'मिल गया' होता है।

(६)

"कह कवि सेखर गरुअ भूख पर,
करु जल थोर अहार॥
अइसन दुहु मन तलफइ पुन पुन,
उपजल अधिक विकार॥" (८५ सं० पद)

गुप्तजी और सहायजी के संस्करण में 'भूख पर' के बदले 'भूख भर' और 'तलफइ' के बदले 'तलपइ' पाठ है। प्रमाणिक बँगला-पोथी में पाठ है—

"कह कवि सेखर गरुअ भूख भर,
करु जनु थोर अहार॥
ऐसन दुहु मन तलपइ पुन पुन,
उपजल अधिक विकार॥"

मेरी समझ में यह पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। 'भूख भर' का अर्थ—भूख से भरा, भूख से पूर्ण है। तात्पर्य यह कि भूख से पूर्ण मनुष्य जैसे अधिक भूख के कारण इच्छा के अनुसार भोजन

नहीं कर सकता वैसे हीनायक और नायिका—दोनों का मन पुनः पुनः तड़पने लगा—अधिक विकार उत्पन्न हो गया, अर्थात् अधिक अस्थिरता के कारण सम्भोग इच्छा के अनुसार नहीं हो सका। बँगला के बोलचाल की भाषा में 'जल-पान' के बदले 'जल खाओ-या' बोला जाता है, पर 'जल का अहार' जैसा प्रयोग हिन्दी, मैथिली और बँगला भाषा में नहीं पाया जाता। गुप्तजी ने इस वाक्य का बड़ा कौतुक-जनक अर्थ किया है। वे लिखते हैं—'कवि-सेखर (विद्यापति) कहे, अत्यन्त क्षुधित हइले अल्प आहार (ओ अल्प) जलपान करिबे। एइ रूपे दुइ जनेर मन बार बार अस्थिर हइया अधिक विकार उत्पन्न हइल।' अस्तु। यही कहना पर्य्याप्त होगा कि ऐसा पाठ, अन्वय और अर्थ सभी बहुत कुछ असङ्गत मालूम होता है। अधिक क्षुधा में थोड़ा ही भोजन और जलपान करना चाहिये, यह वैद्य का उपदेश हो सकता है; पर यहाँ उसकी उपयोगिता क्या होगी ? क्या विद्यापति वैद्य बनकर नायक-नायिका को यह उपदेश देते हैं कि अधिक इच्छा होने से भी अधिक सम्भोग नहीं करना चाहिये ? बेनीपुरीजी ने गुप्तजी का वही अशुद्ध पाठ लिया है; पर उन्होंने उस वाक्य का अर्थ कुछ नहीं लिखा। लिखने की ज़रूरत भी नहीं है; क्योंकि—"करु जल थोर अहार" वाक्य का सहज और सीधा यह अर्थ होता है कि—अधिक भूख पर मनुष्य थोड़ा जल-अहार, (अर्थात् पान) करता है। ऐसे अर्थ का दोष पहले ही बताया जा चुका है।

(७)

"कह कवि-रँजन सहज मधु राई।
न कह सुधामुखि गेल चतुराई" ॥ (९५ सं० पद)

टीका—"सहज मधु राई = राई (राधा) स्वभावतः ही मधु (सदृश) है। गेल चतुराई = चतुरता ख़तम हो गई।"

गुप्तजी के संस्करण में भी ऐसा ही पाठ और अर्थ है। बँगला प्रमाणिक पोथियों का पाठ है—"कह कवि-रँजन सहज मधुराई" अर्थात् कवि-रञ्जन उपनाम-वाले कवि विद्यापति ने स्वाभाविक मधुरता के साथ कहा है; इत्यादि। "राधा स्वभावतः ही मधु है" यह उक्ति अब तक मुझे किसी कविता में नहीं मिली। महाकवि विद्यापति की कविता में ऐसी दोष-युक्त उपमा का प्रयोग कभी नहीं हो सकता। यदि गुप्तजी और बेनीपुरी जी 'मधुराई' पाठ को पाते तो ऐसा अर्थ न करते। मेरे समझ में शब्दों के बीच में कुछ व्यवधान रखने और कहीं-कहीं लिपि-कारकों की भूल से एक ही शब्द में अनुचित पदच्छेद देने के कारण पाठों में ऐसी कौतुक-जनक भूल हो गई। ऐसे स्थलों में यदि शुद्ध पाठ न मिले तो पदच्छेद लगाकर ठीक पाठ कर लेना सम्पादकों के लिये बड़ा आवश्यक काम होता है। ऐसी भूलें और भी हैं; आगे देखिये।

(८)

"केसू कुसुम सिंदुर सम भास।
केतकि-धूल बिथरहु पट बास" ॥ (१७९ सं० पद)

टीका—"केसू = पलास । कुसुम = फूल । भास = मालूम होता है। धूल = पराग। विखेर दिया है। पट बास = रेशमी वस्त्र।"

गुप्तजी का पाठ—

"केसु कुसुम सीदुर सम भास।
केतकि धूलि बिथुरलहु परवास ॥"

पाठ कुछ भिन्न होने भी गुप्तजी ने 'परवास' शब्द का अर्थ "पट्ट वस्त्र" अर्थात् रेशमी वस्त्र ही किया है। मैथिल तालपत्र की पोथी मैंने नहीं देखी, इसलिये मैं नहीं जानता कि उसमें कैसा पाठ है। पर यह सोचने की बात है कि एक ही पोथी से उक्त दोनों सम्पादकों ने किस तरह से ऐसा विभिन्न पाठोद्धार किया। अस्तु, मेरी समझ में संस्कृत 'पटवास' शब्द का मैथिल अपभ्रंश में 'परवास' हो सकता है। यहाँ पर शुद्ध पाठ 'पटवास' या 'परवास' होगा; पर 'पट वास'—जिसका अर्थ 'पट्ट वस्त्र' है—नहीं हो सकता; क्योंकि 'अभिनव जयदेव' विद्यापति ने यहाँ प्राचीन कवि जयदेव के अनुसार वसन्त का वर्णन किया है। जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' में लिखा है:—

"दर-विदरित-मल्ली-वल्ली-चञ्चत्-पराग,
प्रकटित-पट वासै वासयन काननानि ।
इह हि दहति चेतः केतकी-गन्ध-वन्धुः,
प्रसरद् सम-वाण प्राणवद् गन्धवाहः ।।"

सब प्रामाणिक टीका-कारों ने 'पटवास' शब्द का अर्थ 'सुगन्धि-चूर्ण-विशेष' लिखा है। 'पटवास' शब्द का यह अर्थ संस्कृत के किसी-किसी कोष में भी लिखा है। ऐसा ही होना भी चाहिये; क्योंकि केतकी-फूल के परागों के साथ श्वेत सुगन्धि-चूर्ण (Scented powder) का बहुत कुछ सादृश्य होता है, इसलिये जयदेव के अनुसार विद्यापति ने कहा कि केतकी-परागों ने तमाम बन में सफ़ेद सुगन्धि-चूर्ण विखेर दिया है। 'पटवास' यदि रेशमी वस्त्र हो तो उससे किस तरह से सब वन सुवासित हो सकता है? और वह वस्त्र भी किस तरह से बसन्त-पवन के द्वारा तमाम वन में विस्तृत किया जाय? विस्तृत भी किया जाय, तो उससे क्या लाभ होगा? उससे तो बन की शोभा ही आच्छदित हो जायगी।

(९)

अब दो-एक पाठ की भूलों से तमाम पद के चमत्कार को कौन कहे, अर्थ भी कैसे अवोध्य हो जा सकता है, इसका एक अच्छा उदाहरण लीजिये।

गुप्तजी ने और उनके अनुसार बेनीपुरीजी ने बँगला "कीर्त्तनानन्द" पोथी से निम्न-लिखित नामहीन पद उद्धृत किया है:—

"मानिनि हम कहिए तुअ लागी।
नाह निकट पाइ जे जन बंचए
तेकर बड़हि अभागी॥
दिनकर-बन्धु कमल सब जानए
जल तेहि जीवन होई।
पङ्क बिहिन तनु भानु सुखाबए
जल पटाब बरु कोई॥
नाह समीप सुखद जत वैभव
अनुकुल होएत जोई।
तेकर बिरह सकल सुख सम्पद
खन खन दगधए सोई॥
तुहु धनि गुनमति बुझि करह रति
परिजन ऐसन भास।
सुनइते राहि हृदय भेल गदगद
अनुमति कएल प्रगास॥" (१४६ सं० पद)

मैं नहीं जानता कि किस कारण गुप्तजी ने और बेनीपुरी जी ने 'तुअ लागि = तुम्हारे लिये। नाह = पति। दिनकर = सूर्य' इत्यादि कुछ सीधे-सादे शब्दों के अर्थ के सिवा पद के दुर्बोध्य शब्दार्थ और तात्पर्य के विषय में कुछ नहीं लिखा। मेरी समझ में यथोद्धृत 'जल पटाब बरु कोई' या गुप्तजी का 'जलहि पटावत सोइ' पाठ से कोई अच्छा अर्थ नहीं निकलता।

"जल पटाब बरु कोई" या "जलहि पटावत सोइ" प्रमाणिक पाठ नहीं है। मेरी आलोचित पोथियों में केवल "पद-रत्नाकर" में "कीर्त्तनानन्द" के अनुसार "जलहि पठाओत सोइ" यह अर्थ-हीन अशुद्ध पाठ और "पद-कल्पतरु" के 'क', 'ख', 'ग', 'ध', 'च'—सब पोथियों में "जलहि पचायत सोइ" पाठ है। मेरी समझ में यही शुद्ध पाठ है; क्योंकि—'दिनकर बन्धु' इत्यादि चार-चरणों का अर्थ और तात्पर्य यह है कि सब लोग जानते हैं कि सूर्य कमल का मित्र और कमल का एक नाम 'जलज' होने के कारण जल कमल का जीवन होता है। फिर पङ्क से यदि कमल अलग हो जाय अर्थात् उसका लता-रूपी देह पङ्क-स्थित मूल से टूट जाय, उसका पङ्क-विहीन देह मिट्टी पर गिर पड़े तो उसका परम मित्र सूर्य 'सुखावए' अर्थात् सुखा देता है और वह जल में गिरे तो जीवन-रूपी जल भी उसको सड़ा-गला देता है। इस दृष्टान्त से मालूम होता है कि तुम जिसको पङ्क जैसा तुच्छ समझते हो, उस नाथ के साथ तुम्हारा संयोग रहे तो तुम्हारे और सब मित्र भी वैसे ही अशुभदायक ही बन जायँगे जैसे पङ्क-विहीन कमल के लिए उसका मित्र सूर्य और जल अशुभ-दायक बन गया। इस दृष्टान्त से यह नीति निकलती है कि "नाह समीपे सुखद जत वैभव अनुकुल होएत जोई। तेकर विरहे सकल सुख सम्पद खन खन दगधए सोई।" देखिये एक 'पटावत' पाठ की भूल के कारण ऐसे अनूठे पद का अर्थ कैसा अबोध्य और पद

का सौन्दर्य कैसा नष्ट हो गया। इससे भी चमत्कृत "धनि भेलि मानिनि" इत्यादि १५४ संख्यक पद का अर्थ भी कुछ तुकों की उलट-पुलट और पाठाशुद्धि के कारण सम्पूर्ण दुर्बोध्य या अबोध्य हो गया।

१० वें विचार में मैं उस पद को दिखलाऊँगा और विस्तार के भय से पाठाशुद्धि के विचार को यहीं समाप्त करूँगा। यद्यपि गुप्त जी के बहुत बड़े संस्करण की कौन कहे, बेनीपुरीजी के बहुत छोटे संस्करण में भी ऐसी पाठाशुद्धि के उदाहरण और बहुत हैं।

(१०)

कविशेखर (विद्यापति) के निम्न-लिखित 'मान' के पद में श्रीराधाजी के मान ठानने का चातुर्य्य और श्रीकृष्णजी के मान-भञ्जन का चातुर्य कैसे अनूठे ढङ्ग से वर्णित हुआ है, यह देख लीजिये।

"धनि भेलि मानिनि सखि-गण माझ।
अनुनय करइते उपजय लाज॥
परितिक आरति विरति न सहइ।
इङ्गित-भङ्गिए दुहु सब कहइ॥
राइ सुचेतनि कानु सयान।
मनहि समाधल मन-अभिमान॥
हरि शिर-छाय धरल धनि-पाय।
सम्भ्रमे बैठलि धनि कर लाय॥

निज-नूपुर जब धरु वन-मालि।
सखि सजे अनत चलत वर-नारि॥
अधरे मुरलि जब धरु वनयारि।
फोइ कबरि धनि बांधि समारि॥
कह कविशेखर बुझए सयान।
इङ्गिते रस बरखल पँचवान॥"

अर्थात् सखियों के मध्य में बैठकर सुन्दरी (श्रीराधा) मानिनी हुई थी; (इसलिये) अनुनय के काम में (श्रीकृष्णजी को) लज्जा हो रही थी। (फिर) प्रेम की उत्कण्ठा काल-विलम्ब को नहीं सह सकी, (इसलिए) श्रीकृष्ण और श्रीराधा दोनों ने इङ्गित से मन की सब बातें बताईं। श्रीराधा सुचतुरा और श्रीकृष्ण भी चतुर हैं, (इसलिए) दोनों ने मनोभाव से ही मन के अभिमान की चरितार्थता की। (वह इङ्गित यह है कि) श्रीकृष्णजी ने (अपना प्रेम जताने के लिए) सुन्दरी के पैर के ऊपर अपने सिर की छाया गिराई थी; श्रीराधाजी नाथ की यह चतुरता समझकर सम्भ्रम के साथ (पैर के ऊपर) अपने हाथों को लाकर बैठ गईं, जिससे श्रीकृष्णजी के सिर की छाया अपने हाथों द्वारा रोक दी जाय। (तब लाचार होकर) वनमाली ने (अपने नूपुर को ठीक करने के छल से) अपने नूपुर को पकड़ लिया अर्थात् यह जताया कि मैं लाचार होकर तुम्हारे पैर पकड़ता हूँ, (मेरा अपराध क्षमा करो)। (श्रीकृष्णजी के इस

इङ्गित का और कोई प्रत्युत्तर जब नहीं मिला तब मान की स्थिरता बताने के लिये) नारी-शिरोमणि श्रीराधा—"स्थान-त्यागेन दुर्जनः" दुर्जन का सङ्ग छोड़ना ही चाहिये इस नीति के अनुसार—यह जताने के लिये सखियों के साथ दूसरे स्थल में जाने लगीं। रस-शास्त्रकारों की सम्मिलित सम्मति यह है कि जहां मान-भञ्जन के और सब उपाय व्यर्थ हो जांय, वहाँ कृत्रिम औदासीन्य दिखलाने से फल होता है। यह जानकर राधाजी के ऊपर अपना औदासीन्य दिखलाने के लिए, राधाजी के अनुनय को छोड़कर, मुरली बजाने से औदासीन्य का प्रकाश होगा, और त्रिभुवन के मन को रिझानेवाली मुरली की तान से शायद श्रीराधा प्रसन्न होंगी, यह समझकर श्रीकृष्णजी ने अधर पर मुरली धर ली और उसका वादन आरम्भ किया। तब श्रीराधाजी प्रसन्न होकर नायिका-सुलभ हाव-भाव और विभ्रम-विलास के कारण केश-पाश को खोलकर उसे फिर सँभालकर बाँधने लगीं। कवि शेखर कहता है कि यह चातुर्य सयाने लोग ही समझते हैं। पञ्च-बाण कन्दर्प-देव ने इस मौक़े पर इङ्गित से ही शृङ्गार-रस का वर्षण कर दिया!

मैंने अपनी "अप्रकाशित पद-रत्नावली" के अनुसार यह पद और उसका तात्पर्य्य यहाँ दिया है। पर अब देखना चाहिये कि गुप्तजी और बेनीपुरीजी के संस्करण में इसकी कैसी हालत हो गई है।

इस पद के आरम्भ से छठवें चरण के 'मन-अभिमान' तक गुप्त जी और बेनीपुरीजी के संस्करण में सब ठीक है; परन्तु उसके

बाद ही "अधरे मुरलि" इत्यादि तुक फिर उसके बाद 'निज-नूपुर' इत्यादि तुक और उसके बाद "हरि शिर-छाय" इत्यादि तुक रखी गई है। केवल तुकों की ऐसी उलट-पलट ही नहीं, उन तुकों में बड़ी मारात्मक पाठाशुद्धि भी आ गई; क्योंकि 'शिर-छाय' इस अपरिहार्य पाठ के बदले 'जब छाया' पाठ और 'निज नूपुर जब' इस अपरिहार्य पाठ के बदले 'जो निज पुर-पथ' पाठ रख दिया गया है ऐसे पाठ से उन्मत्त-प्रलाप के सिवा और कौन सा सङ्गत वाक्यार्थ हो सकता है—यह मेरी तुच्छ समझ में नहीं आता। गुप्तजी ने और बेनीपुरीजी ने इस पद के तात्पर्य के विषय में कुछ नहीं लिखा। इन दोनों सम्पादकों ने केवल कुछ शब्दों का और 'हरि जब छाया' आदि वाक्य का शब्दार्थ लिखकर बस कर दिया है। इसमें भी कुछ कौतुक है; क्योंकि बेनीपुरीजी ने 'हरि जब छाया' इत्यादि वाक्य का अर्थ लिखा है कि "जब श्रीकृष्ण ने (रास्ते में) राधा को पाकर उसपर छाया की तो राधा झटपट उनका हाथ पकड़कर बैठ गईं।" तुकों की उलट-पलट और पाठ की भूल से और कौन अर्थ हो सकता है? यहाँ यह भी कहना पड़ता है कि विद्यापति के पदों में 'पाकर' के अर्थ में 'पाय' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता; हाँ, 'पाइ' ही देखा जाता है। शायद गुप्तजी ने यही समझकर इसका अर्थ यह लिखा कि "हरि जखन धनीर पाये छाया करिल अर्थात् अवनत हइया ताहार चरण धारण करिल, तखन धनी कर द्वारा ताहा के निवारण करिया सम्भ्रमे उपविष्ट

हइल।" गुप्तजी के इस अर्थ के विषय में कहना होगा कि उन्होंने जो 'पाय' का अर्थ 'पाये' (पाए) अर्थात् पैर के ऊपर लिखा, वह बहुत ठीक है। फिर पैर के ऊपर छाया करने से अवनत होकर चरण-धारण जैसा अर्थ निरी कष्ट-कल्पना है। अगर सखियों के आगे श्रीकृष्णजी श्रीराधाजी के चरण-धारण करें तो उनका वह गौरव और चातुर्य कहाँ रहे, जिसके कारण वे मौखिक अनुनय करने पर भी लज्जित होते थे !

न हान स मा बालका का आखा म प्रसन्नता आ सकता ह।

अर्थ की भूल

र्थ की भूलों के बहुत से उदाहरण यद्यपि पाठों की भूलों के विचार में मिले हैं; तथापि कुछ निराली अर्थाशुद्धि के उदाहरण यहाँ और दिये जाते हैं।

(१)

"पएसि पयाग जाग सत जागइ।
सोइ पावए बहु भागी ॥" (१८ सं० पद)

गुप्तजी और सहायजी के संस्करण में 'पएसि' के बदले 'पयसि' पाठ है; और उसका अर्थ 'जले' अर्थात् 'जल में' किया गया है। पर जल में जागना किस तरह से हो सकता है? शायद यह समझकर बेनीपुरीजी ने 'पएसि' पाठ मानकर उसका अर्थ 'पैठकर, जाकर' लिखा है। मेरी समझ में 'पयसि' पाठ भी अशुद्ध नहीं है; क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि प्रयोग के समान यहां भी लक्षण द्वारा प्रयाग की गङ्गा का तीर-वर्त्ती स्थल ही मालूम होता है। ऐसा स्थल शास्त्र के अनुसार बहुत फल-दायक होता है। अस्तु, मैं 'पएसि' पाठ को भी भूल नहीं समझता हूँ; परन्तु 'जाग सत जागइ' वाक्य का अर्थ बेनीपुरीजी ने जो 'सैकड़ों यज्ञ करे' लिखा है, तात्-

पर्य ऐसा होने पर भी शब्दार्थ ऐसा नहीं होता। 'जागइ' शब्द का अर्थ 'करे' किस तरह से हो सकता है? काव्य-विशारद जी के बंगीय संस्करण के अनुसार गुप्रजी ने और सहायजी ने 'जागइ' का अर्थ 'उद्‌बोधित करे' 'उद्यापन करे' लिखा है; पर 'जागइ' में 'णिजन्तार्थ' अन्तर्भूत न होने से 'उद्‌बेधित' अर्थ नहीं हो सकता। हिन्दी-मैथिल आदि अपभ्रंश भाषाओं में संस्कृत जैसा ऊह्य अन्तर्भूत णिजन्तार्थ का प्रयोग नहीं मिलता; इसलिये ऐसा अर्थ समीचीन नहीं होता। मेरी समझ में 'जाँग को जागना' अंग्रेजी के "He dreamt a dream और संस्कृत के 'यज्ञं यजते देवदत्तः" जैसा प्रयोग है। अतः 'जागना' का अर्थ केवल 'करना' नहीं, पर 'यजन करना' होना चाहिये।

(२)

"चंचल चरन चित चंचल भान।"
जागल मनसिज मुदित नयान॥ (१० सं० पद)

टीका—"भान = मालूम होना। पैर चंचल थे ही, अब चित्त भी चंचल मालूम होता है। मुदित = प्रसन्न। नयान = आँखें। काम उत्पन्न हुआ और आँखों में प्रसन्नता आ गई।"

ऐसा अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि काम उत्पन्न न होने से भी बालिका की आँखों में प्रसन्नता आ सकती है।

'मुदित' शब्द का अर्थ यहां 'मुद्रित' या 'मूंदल' होगा; जैसा राधामोहन ठाकुर ने "पदामृत-समुद्र" की संस्कृत-टीका में लिखा है कि—"तस्या हृदि जाग्रदवस्थोऽपि मदनीमुद्रित-नयन आसीत्। मैथिली और बँगला में कृदन्त 'क्त'—प्रत्यय के अर्थ में 'जागल' 'कदल' इत्यादि पद होता है। इसलिये 'जागल' शब्द का ऐसा 'जागता हुआ' अर्थ हो सकता है और 'मुद्रित' के अर्थ में मुदित का प्रयोग विद्यापति ने किया भी बहुत है। जैसे—"मुदितँ नयन हिय भुज-युग चापि। सूति रहल तहिं किछु न अलापि॥' (४७ संख्यक पद) इत्यादि। 'वयःसन्धि' की अवस्था में मदन जागता हुआ होने पर भी उनकी निद्रा की जड़ता अब तक नहीं गई, इसलिये आँखें मुँद रही हैं, ऐसा वर्णन बड़ा अनूठा मालूम होता है।

(३)

"अरि सम गञ्जए, मन पुन रंजए
अपन मनोरथ साइ।" (६८ सं० पद)

बनीपुरीजी ने गुप्तजी के अनुसार 'साइ' का अर्थ 'वह' लिखा है। ऐसा अर्थ होने से 'अपन मनोरथ साइ' वाक्य का कैसा अन्वय और अर्थ होगा? फिर 'साइ' शब्द का ऐसा प्रयोग भी नहीं मिलता। मेरी समझ में संस्कृत 'साधु' और हिन्दी 'साधना' से अपभ्रंश में 'साहि' या 'साइ' होता

है। इसका अर्थ है 'साधन करके'। सम्पूर्ण वाक्यार्थ यह है कि श्रीकृष्णजी अरि के तुल्य कभी श्रीराधा की गञ्जना भी करते हैं और (नाना उपाय से अपना मनोरथ सिद्ध करके फिर उनके मन को भी रिझाते हैं।

(४)

"सुन्दर कनककेआ मुति गोरी।
दिन दिन चाँद कला सयँ बाढ़लि
जउबन सोभा तोरी॥" (६० सं० पद)

गुप्तजी के अनुसार बेनीपुरीजी ने 'कनककेआ' शब्द का अर्थ—'कनकीया सुवर्ण-निर्मिता' लिखा है। मेरी समझ में यह बड़ी भूल है; क्योंकि संस्कृत-तद्धित के अनुसार 'य' (ईय) प्रत्यक्ष होने से 'कनकीया' पद हो सकता है। 'कनककेआ' कैसे होगा ? बन्दीय-पदावली में 'कनक-केतकी' शब्द पाया जाता है। वह एक प्रकार केतकी या केआ-फूल का नाम है जिसका रङ्ग पीला होता है। बँगला में 'केतकी' का अपभ्रंश 'केया' या 'केआ' होता है। यहाँ भी 'कनककेआ' का अर्थ 'पीला केवड़ा-फूल' होगा। संस्कृत 'केतक' शब्द से 'केआ' और 'केअड़ा' दोनों अपभ्रंश पद हो सकते हैं। जैसा—संस्कृत 'केतक' प्राकृत 'केअअ' और 'केटअ'। भाषातत्व, (Philosophy) के अनुसार 'केअअ' से 'केआ' और 'केटअ, से 'केड़अ'—'केअड़'—'केओड़'—'केओड़ा' सिद्ध होता है। केतकी फूल की मञ्जरी के साथ पीले

या पाण्डु वर्ण की उपमा संस्कृत काव्यों में बहुत मिलती है। यथा—

"ग्लपयति परिपाण्डु श्याममस्याः शरीरम्।
शरदिज इव धर्म्मः केतकी-गर्भ-पत्रम्॥"

उत्तर-चरितम्। इत्यादि

(५)

"बहि हनि-रंग लिखापन माने"

(१०४ संख्यक पद)

बेनीपुरीजी ने 'बहि' शब्द का अर्थ 'बही, हिसाब की पुस्तक' लिखा है। ऐसा अर्थ नहीं है; क्योंकि यह पद विद्यापति-कृत एक फुटकर संस्कृत-श्लोक का मर्म्मानुवाद है। वह श्लोक ("रत्नाकर-सुता भार्या" इत्यादि) गुप्तजी के अनुसार बेनीपुरी जी ने भी उद्धृत किया है। उसमें है—"वहिर्णतिः (ती) रति-क्रीड़ा मानो वेदन-लेखकः।" इसलिये यहां 'बहि' शब्द से 'वहिर्णति' अर्थात् 'बाहर से प्रणति' समझना चाहिये। गुप्त जी ने ठीक अर्थ लिखा है। मैं नहीं जानता कि बेनीपुरीजी ने क्यों गुप्तजी के ठीक अर्थ के बदले ऐसा भूल भरा अर्थ लिखा है।

(६)

"माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि।
नवम मास पंचम हरु आई।" (१७४ सं० पद)

गुप्तजी ने लिखा है—"एइ पदे 'गजाइल' ओ 'सआई' शब्देर अर्थ करिते पारा गेल ना।" गुप्तजी का उद्धृत 'राग-तरङ्गिणी' पोथी का पाठ 'गजाइलि' और 'पंचमहु रुआइ' है। अस्तु, बेनीपुरीजी ने कुछ पाठ-परिवर्तन कर 'गँजाइलि' का अर्थ—'पूर्ण-गर्भा हुई' और पंचम हरुआइ' का अर्थ—"पांचवा दिन होने पर" लिखा है। मैं नहीं जानता कि "राग-तरङ्गिणी"—पोथी में कैसा पाठ है, पर यह कह सकता हूँ कि हिन्दी, मैथिली और बँगला में 'गँजाइलि' का अर्थ 'पूर्ण-गर्भा हुई' नहीं होता। गुप्त जी के अनुसार "गजाइलि" ठीक पाठ मालूम होता है। उसका अर्थ है—अङ्कुरित या कली के आकार से उत्पन्न हुई। अर्थ भी ऐसा ही होगा; क्योंकि श्रीपंचमी या बसन्त-पंचमी में ही बसन्त का जन्म होता है। 'पंचम हरुआई' का अर्थ किस तरह से 'पांचवा दिन होने पर' होगा—यह मेरी समझ में नहीं आता। ऐसे दुर्बोध शब्द का अर्थ यों ही, अन्दाज़ से, न लिखना चाहिये। जहाँ गुप्तजी जैसे भाषा-वित् को कोई अर्थ मालूम नहीं हुआ था, वहाँ पाठ-परिवर्तन और अर्थ की संगति के विषय पर ज़रूर कुछ लिखना चाहिये था। हमारे देश में बसन्त-पंचमी के दिन वन-भ्रमण कर वसन्त की शोभा देखने की रीति है। क्या 'हरुआई' का अर्थ 'हेरना (देखना) का त्योहार' होगा? इस पद में एक राजकुमार के जन्म जैसा बसन्त का जन्म वर्णित हुआ है। 'हेरुआई' या 'हरुआई' का अर्थ ऐसा ही होता तो दोनों अर्थ में

ही उसकी सङ्गति होती क्योंकि वसन्त जैसे राज-कुमार के जन्म होने से भी उसको देखने के लिए बहुत भीड़ होती है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ—ग्रीष्म के प्रारम्भ ज्येष्ठ से माघ तक नवम मास (पूर्ण) हुआ और पंचमी तिथि की 'हेरुआई' का उत्सव आ गया। बेनीपुरीजी ने ठीक लिखा है कि वैद्यक के अनुसार नव महीने पांच दिन के बाद पुष्ट बालक पैदा होता है।

(७)

"जहां मुगुधलि मानिन करए मान।
परिपंथिहि पेखए पंचवान॥" (१८२ सं० पद)

बेनीपुरीजी ने 'परिपंथिहि' का अर्थ 'पत्रिकों को' लिखा है। ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। संस्कृत 'परिपंथी' शब्द का अर्थ है—'शत्रु' गुप्तजी ने भी 'शत्रु' अर्थ ही लिखा है। परन्तु उन्होंने इस तुक का जो अर्थ लिखा—"मुग्धा मानिनी मान करिते छे शत्रु मदन (ताहा) देखिते छे"—वह समीचीन नहीं है। मेरी समझ में ठीक अर्थ यह होगा कि—जहां बुद्धि-हीना मानिनी मान करती और (मान के कारण) मदन को शत्रु-तुल्य देखती है। क्योंकि मदन अपने पाँच बाणों से उस मानिनी को सताता है। बेनीपुरीजी ने तात्पर्य में कुछ नहीं लिखा। यदि 'परिपंथि' पथिक होगा तो "मदन पथिकों को देखता है" यह कहने से क्या फल होगा? क्या मदन भस्मा-

सुर है, कि उसकी दृष्टि से पथिक भस्मीभूत हो जायगा और उस दृष्टान्त से मानिनी को डर लगेगा ? गुप्तजी के अर्थ का कुछ परिवर्त्तन करने से अच्छा तात्पर्य निकल सकता है जैसा कि "पंच-बान मदन (मानिनी का) शत्रु-तुल्य देखता है (अर्थात् उसको सताता है; इसलिए मान न करना चाहिये)। परन्तु ऐसे अर्थ में कुछ शब्द ऊह्य करने पड़ेंगे और कुछ दूरान्वय या दुरंन्वय भी होगा; इसलिये मैं उस अर्थ को पसन्द नहीं करता ।

(८)

"अरे अरे अरे कान्हु की रभसि बोरि ।
मदन-भुजंग डसु बालहि तोरि ॥
भनइ विद्यापति एहो रस भान ।
एहि विष-गारुड़ एक पए कान ॥" (२१० सं० पद)

टीका—"एक कृष्ण ही इस विष के लिये गरुड़ है ।" गुप्त जी ने अर्थ लिखा—"विषगारुड़ औषध, प्रतिकार। विषधर सर्पपर येमन गरुड़ शत्रु। ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। संस्कृत "गारुड़" शब्द का अर्थ 'गारुड़-शास्त्र के अनुसार सर्प-विष का प्रतिकार' है। अतः तुम 'विष-गारुड़' का अर्थ होगा—हे कृष्ण जी, तुम ही इस मदन-भुजंग द्वारा डसी हुई श्रीराधा के लिए विष-नाशक औषध हो, (क्योंकि श्रीकृष्णजी ने सर्प-राज 'कालिय' का दमन किया था। अतः उनसे अधिक भुजङ्ग-दमनकारी कौन हो

सकता है ?) यहां श्रीकृष्णजी का ही प्रसङ्ग है; उनका ही प्रयोजन है; नाहक गरुण (पक्षी) को लाने से क्या होगा ?

(९)

"हिमकर हेरि अवनत कर आनन,
करु करुना पथ हेरी।
नयन काजर लए लिखए विधुन्तुद,
भय रह ताहेरि सेरी ॥" (२११ सं० पद)

टीका—"हिमकर = चन्द्रमा। अवनत = नीचे। बिधुन्तुद = राहु। ताहेरि सेरी = उसी की शरण में।

गुप्तजी ने 'ताहेरि सेरी' का अर्थ लिखा—'ताहार शरणार्थी' 'सेर' का ऐसा अर्थ किसी कोष में नहीं मिलता। डा० फैलन साहेब महोदय ने अपने वृहत् कोष में 'सेर' का अर्थ 'Satisfied' अर्थात् 'परितृप्त' और 'सेरी का अर्थ 'Satisfaction' अर्थात् 'परितृप्ति' लिखा है। 'ताहेरि' पाठ की भूल है; ठीक पाठ 'ता हेरि' होगा। 'भय रह' इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है कि नयन के काजल से राहु को लिखती अर्थात् राहु का चित्र अङ्कित करती और उसे देखकर परितृप्त या सन्तुष्ट होकर रहती है; क्योंकि उसे आशा होती है कि वह राहु कष्ट-दायक चन्द्र को ग्रास कर लेगा।

किन्हीं किन्हीं टीका-कारों की आदत है कि वे टीका में कठिन शब्दों और वाक्यों को छोड़ देते हैं। मुझे दुःख के साथ कहना

पड़ता है कि बेनीपुरीजी के संस्करण में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिले। यहां 'करु करुना पथ हेरी' एक कठिन वाक्य है; क्योंकि 'करुणा' शब्द के प्रसिद्ध 'कृपा' अर्थ की यहाँ कुछ सङ्गति नहीं होती। गुप्तजी का एक बड़ा गुण यह है कि उन्होंने चाहे ठीक अर्थ हो और चाहे न हो, प्रायः सब कठिन शब्दों पर टीका-टिप्पणी की है। यहां उन्होंने लिखा है—'कातर (दृष्टिते) पथ चाहिया थाके' अन्दाज़ से तो ऐसा अर्थ ही मालूम होता है; पर यह अर्थ कैसे हो सकता है, वह भी बताना चाहिये। यदि 'करुणापथ' का अर्थ 'कातर (दृष्टि ते), पथ भी किसी तरह से हो सके तो, 'करु' शब्द की कौन गति होगी ? 'हेरी' शब्द का अर्थ 'देखिया थाके होने से 'करु' शब्द सम्पूर्ण निरर्थक ही मालूम होता है। फिर 'करुणा' का अर्थ 'कातर-दृष्टिते' किस तरह से हो सकता ? यद्यपि सर ग्रिअर्सन महोदय के मैथिल शब्द-कोष (Vocabulary) में 'करुना' या 'करुणा' इस अपभ्रंश शब्द का अर्थ नहीं मिलता, परन्तु प्राचीन बँगला में करुण-रस-सूचक कातरोक्ति के अर्थ में 'करुणा' शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है, जैसा—

"विनये कर-पद्म करे धरिया।
कहिछे तरुणी करुणा करिया॥

भारतचन्द्र का 'विद्या-सुन्दर'।

विद्यापति के "करु करुणा पथ हेरी" वाक्य का अर्थ भी ठीक ऐसा ही है। उस वाक्य का बहुत सीधा-सादा अर्थ यह है कि

(वह श्रीराधा) पथ अर्थात् श्रीकृष्णजी के लौटने का पथ देखकर (करुण-रस-सूचक कातरोक्ति करती है—

(१०)

"रटति रबाब महतिक पिनास ।
राधा रमन करु मुरलि विलास ॥" (१८५ सं० पद)

'महातिक पिनास' की टीका में बेनीपुरीजी ने गुप्तजी के अनुसार लिखा है—"महतिक = बड़ी बीणा । पिनास = एक वाद्य यंत्र ।"

ऐसे पाठ और अर्थ की कल्पना की एक कौतुक-जनक कहानी है। स्वर्गीय साहित्याचार्य अक्षयचन्द्र सरकारजी के "प्राचीन काव्य-संग्रह" ग्रन्थ में विद्यापति का यह पद उद्धृत हुआ था और उसमें प्रामाणिक पोथी के अनुसार "रटति रबाब महति कापिनास" पाठ था। 'हितवादी' पत्रिका के भूत-पूर्व सम्पादक स्वर्गीय कालीप्रसन्न काव्य-विशारद जी द्वारा सम्पादित विद्यापति के संस्करण में प्रायः पूर्ववर्त्ती टीकाकारों पर कुछ उपहास देख पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि—"कपिनास नामे कोन प्रकार वाद्ययन्त्र आछे, इहा केवल आधुनिक कोन प्रभुर टीका देखिलाम। अन्य कोथाओ तेइ शुनि नाइ !" मेरी समझ में उनकी इस साटोप उक्ति के कारण परवर्त्ती सम्पादक गुप्तजी ने इस विषय में और कुछ खोज करना अनावश्यक समझ कर उनके अनुसार 'महतिक पिनास' पाठ और वह अर्थ लिखा दिया है। परन्तु इस विषय में खोजने से मुझे पता मिला कि

'महतिक' और 'पिनास' नाम का कोई वाद्य यंत्र नहीं है; परन्तु 'महति' (महती) और 'कविलास' नाम का बहुत प्रसिद्ध वाद्य-यन्त्र होता है। वीणा-यन्त्र के अर्थ में संस्कृत काव्यों में 'महती' शब्द का बहुत प्रयोग है। संस्कृत काव्यों में 'कविलास' शब्द का प्रयोग न मिलने से भी "भक्ति-रत्नाकर" ग्रन्थ के पंचम तरङ्ग में "संगीत-दामोदर" से उद्धृत एक श्लोक में 'कविलास' का पता मिला है। यथा—

"औडम्बरी पिनाकी च निवन्धः पुष्कलस्तथा।
कविलासो मधुस्यन्दी घोणेत्यादि ततं भवेत् ॥"

संस्कृत 'कविलास' और "पिनाकी" के अपभ्रंश से 'कपिलास', ('कपिनास') और 'पिनाक' शब्दों का उद्भव हुआ। बँगला पदावली में 'पिनाक' यन्त्र का भी प्रयोग मिलता है; पर 'पिनास' का प्रयोग नहीं है। इस विचार से मालूम होगा कि विद्यापति के वर्णित, वाद्ययन्त्र का नाम 'महतिक' और 'पिनास' नहीं है—पर वह उन यन्त्रों का नाम 'महति' (महती) और कविनास (कविलास) होता है।

विषय के गौरव से मेरा लेख कुछ बड़ा हो गया है; इसलिए और पाठ या अर्थ की भूलों को दिखलाने का स्थान यहाँ नहीं है। अतः उपसंहार में दो-चार बात कहकर मैं यहीं इस लेख को समाप्त करूंगा।

उपसंहार

पूर्ववर्त्ती सम्पादकों की भूलों का प्रदर्शन कराना मेरा अभिप्राय नहीं है। "अकरणात् मन्दकरणमयि श्रेयः" इस समीचीन नीति के अनुसार उन्होंने जो कुछ किया, अच्छा किया, यही समझना चाहिये। परन्तु जब हिन्दी में अब तक महाकवि विद्यापति की अनूठी पदावली का कोई सम्पूर्ण और विशुद्ध सटीक संस्करण नहीं हुआ और विद्यापति के विषय में यथेष्ट आलोचना भी नहीं हुई, तब हमें शक्ति के अनुसार, चाहे धन से या ज्ञान से प्रबन्ध करना चाहिये कि तुरन्त एक "विद्यापति-सञ्जीवनी-समिति" संगठित की जाय और उसकी सहायता से विद्यापति के विशेषज्ञ मैथिल, हिन्दुस्थानी और बंगाली पण्डितों के समवेत प्रबन्ध से विद्यापति की पदावली का एक अपेक्षित विशुद्ध सटीक संस्करण प्रकाशित किया जाय और हिन्दी-साहित्य में विद्यापति के पहले दरजे के कवित्व के विषय पर अपेक्षित आलोचना होकर हिन्दी 'नवरत्न' में उनको उपयुक्त आसन दिया जाय। जब तक ऐसा न होगा तब तक हिन्दुस्थान के पण्डितों और समालोचकों को ऐसा उलाहना ज़रूर सुनना पड़ेगा कि जैसा माननीय पं० बेनीपुरीजी ने उनके संस्करण के समर्पण-पत्र में बहुत औचित्य के साथ दिया है।